जिज्ञासु मन

डॉ टी वी वेंकटेश्वरन

वैज्ञानिक मनोवृत्ति तर्क, जिज्ञासा और प्रगति का आधार

किसी समाज का निर्माण अंधविश्वासों और लोगों को विभाजित करने वाली वंशानुगत असमानताओं की नींव पर नहीं किया जा सकता। सार्वजनिक जीवन तर्कसंगत, नैतिक और मानवतावादी विचारों से उत्पन्न सिद्धांतों द्वारा संचालित होना चाहिए। आस्था किसी व्यक्ति का मार्गदर्शन कर सकती है, लेकिन गणराज्य का संचालन तर्क को करना चाहिए।

वैज्ञानिक मनोवृत्ति एक संवैधानिक आह्वान है। हमारे संविधान के अनुच्छेद 51ए में, प्रत्येक नागरिक के मौलिक कर्तव्यों के बीच, एक महत्वपूर्ण निर्देश निहित है: 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानवतावाद और जिज्ञासा तथा सुधार की भावना विकसित करना।' इन तीन मूल्यों का जुड़ाव आकस्मिक नहीं है। ये तीनों विचार परस्पर जुड़े हुए हैं। मानवतावाद के बिना वैज्ञानिक दृष्टिकोण ठंडी तकनीकी व्यवस्था में बदल सकता है; जिज्ञासा के बिना मानवतावाद भावुकता बन सकता है। और आप दोनों के बिना समाज का सुधार नहीं कर सकते। 'चीजें जैसी हैं वैसी क्यों हैं' को समझने की जिज्ञासा, 'क्या है' को 'क्या होना चाहिए' के साथ भ्रमित न करने की हमारी क्षमता, और यह कल्पना करने की करुणा कि वे बेहतर हो सकती हैं, सुधार के केंद्र में निहित हैं। यह त्रयी एक लोकतांत्रिक समाज की नैतिक और बौद्धिक आधारशिला बनाती है।

वैज्ञानिक मनोवृत्ति वास्तव में क्या है?

इस वाक्यांश के दो भाग हैं: विज्ञान और मनोवृत्ति। यहां विज्ञान का तात्पर्य केवल प्रयोगशालाओं, समीकरणों या प्राकृतिक विज्ञानों से नहीं है। यह दुनिया को समझने की एक पद्धति को दर्शाता है। एक तर्कसंगत, साक्ष्य-आधारित प्रक्रिया जिसके माध्यम से हम प्रकृति और समाज दोनों को जानने का प्रयास करते हैं। वैज्ञानिक चिंतन केवल भौतिकी या जीव विज्ञान तक सीमित नहीं है; यह सामाजिक मुद्दों, सार्वजनिक नीतियों और रोज़मर्रा के निर्णयों पर भी लागू होता है।

मनोवृत्ति शब्द एक मानसिक प्रवृत्ति, एक दृष्टिकोण या एक ऐसे रवैये को दर्शाता है जो इस बात को प्रभावित करता है कि हम कैसे सोचते हैं और कैसे कार्य करते हैं। इसका अर्थ विश्वदृष्टि और मन की वे आदतें भी हैं जो यह मार्गदर्शन करती हैं कि हम दावों, विश्वासों और तर्कों का मूल्यांकन कैसे करते हैं। जब ये दोनों विचार एक साथ आते हैं, तो वैज्ञानिक मनोवृत्ति सोचने और जीने का एक तरीका बन जाता है: प्रश्न करना, साक्ष्यों का परीक्षण करना, सुधार के लिए खुला रहना और केवल अधिकार के आधार पर दावों को अस्वीकार करना।

दूसरे शब्दों में, वैज्ञानिक मनोवृत्ति इस बारे में कम है कि हम क्या जानते हैं और इस बारे में अधिक है कि हम कैसे सोचते हैं।

विज्ञान एक जीवन शैली के रूप में

आधुनिक भारत में, वैज्ञानिक मनोवृत्ति का विचार अक्सर जवाहरलाल नेहरू से जोड़ा जाता है। 'द डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में लिखते हुए, उन्होंने वैज्ञानिक मनोवृत्ति को "जीवन शैली, सोचने की प्रक्रिया, कार्य करने का तरीका और साथी मनुष्यों के साथ जुड़ने

लेखक एक विज्ञान संचारक, विज्ञान लेखक, इंडिया साइंस वायर के संस्थापक और मुख्य संपादक हैं, तथा भारतीय विज्ञान शिक्षा और अनुसंधान संस्थान (आईआईएसईआर), मोहाली में अतिथि प्रोफेसर हैं। ईमेल: tvv@iisermohali.ac.in

का तरीका" बताया। उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण को सत्य के प्रति एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण के रूप में देखा, विचारों को परखने की तत्परता, पूर्वकल्पित धारणाओं के बजाय देखे गए तथ्यों पर भरोसा करने और साक्ष्य के आधार पर निष्कर्षों को संशोधित करने की क्षमता के रूप में समझा। उनके लिए, मन का यह अनुशासन केवल प्रयोगशालाओं तक सीमित नहीं था; यह जीवन और समाज की समस्याओं को हल करने के लिए महत्वपूर्ण था।

नेहरू का मानना था कि वैज्ञानिक सोच एक स्वतंत्र व्यक्ति के दृष्टिकोण को दर्शाती है। एक ऐसा समाज जो साक्ष्य और तर्कसंगत जांच को महत्व देता है, वह बौद्धिक स्वतंत्रता को भी महत्व देता है। उस स्वतंत्रता के बिना, विज्ञान और लोकतंत्र दोनों का दम घुट जाता है। नेहरू ने स्वीकार किया कि विज्ञान हर सवाल का जवाब नहीं दे सकता; कला की सुंदरता, कविता की भावना और प्रेम का रहस्य इसकी पहुंच से परे हैं। फिर भी, उनका तर्क था कि जब हम दर्शन के क्षेत्र में पहुंच जाते हैं और तीव्र भावनाओं से भर जाते हैं, तब भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानसिकता आवश्यक बनी रहती है। नेहरू के लिए स्वतंत्रता के बाद भारत की चुनौती स्पष्ट थीः आधुनिक विज्ञान में निपुण होना और एक वैज्ञानिक दृष्टि का विकास करना, ताकि देश आर्थिक और सामाजिक रूप से प्रगति कर सके। इसलिए, वैज्ञानिक मनोवृत्ति उनके लिए एक सांस्कृतिक आदर्श भी था और विकासात्मक आवश्यकता भी।

राष्ट्रीय लोकाचार

यद्यपि इस वाक्यांश को लोकप्रिय बनाने का श्रेय नेहरू को जाता है, परंतु इस विचार के मूल प्रवर्तक वे नहीं थे। यह स्वतंत्रता संग्राम में व्यापक रूप से व्याप्त था, विशेषकर उन लोगों के बीच जो मानते थे कि सामाजिक मुक्ति के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता का बहुत कम अर्थ है। उदाहरण के लिए भगत सिंह को देखें। अपने कारागार-निबंध 'मैं नास्तिक क्यों हूं' में उन्होंने पुराने विश्वास के हर पहलू को चुनौती देने की आवश्यकता पर प्रभावशाली ढंग से चर्चा की। उन्होंने कहा, "जो भी व्यक्ति प्रगति के पक्ष में खड़ा होता है, उसे पुराने विश्वास की प्रत्येक बात की आलोचना करनी होगी, उस पर अविश्वास करना होगा और उसे चुनौती देनी होगी।" उन्होंने आगे कहा, "एक-एक कर उसे प्रचलित विश्वास के हर कोने-कोने का तर्क के आधार पर परीक्षण करना होगा।"

भगत सिंह के लिए अंधविश्वास खतरनाक था, क्योंकि यह मस्तिष्क को कुंठित कर देता है और व्यक्ति को प्रतिक्रियावादी बना देता है। उनका मानना था कि यदि प्राचीन विश्वास तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता, तो उसे ध्वस्त होना ही होगा, ताकि एक नई दर्शन-व्यवस्था के लिए स्थान बन सके। केवल वे मान्यताएं ही स्वीकार किए जाने योग्य हैं जो तर्कसंगत जांच में खरी उतरती हैं।

इसी प्रकार, स्वतंत्रता आंदोलन के कई नेताओं ने सामाजिक सुधार के लिए वैज्ञानिक चिंतन की आवश्यकता को समझा। जाति व्यवस्था की आलोचना, लैंगिक समानता की मांग और आधुनिक शिक्षा का आह्वान, इन सभी ने वंशानुगत सत्ता पर सवाल उठाने को प्रेरित किया। इसी भावना से प्रेरित होकर स्वामी विवेकानंद ने साहसपूर्वक कहा, "मैं आप में से प्रत्येक को अंधविश्वासी मूर्खों के बजाय प्रबल नास्तिक देखना अधिक पसंद करूंगा, क्योंकि नास्तिक जीवित होता है और उससे कुछ बनाया जा सकता है। लेकिन यदि अंधविश्वास प्रवेश कर जाए, तो बुद्धि नष्ट हो जाती है, मस्तिष्क शिथिल हो जाता है और जीवन पतन की ओर अग्रसर हो जाता है।"

इस प्रकार, राष्ट्रीय नेताओं और समाज सुधारकों के लिए विज्ञान और आधुनिक उद्योग प्रगति के साधन थे। फिर भी, इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उनका मानना था कि तर्क स्वयं मुक्ति का साधन है।

बुद्ध का स्वतंत्र जिज्ञासा का सिद्धांत

वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर बहस आंशिक रूप से औपनिवेशिक दावों के उत्तर में उत्पन्न हुई, जिनमें कहा जाता था कि भारतीयों में तर्कशीलता या स्वयं शासन करने की क्षमता का अभाव है। राष्ट्रवादियों ने भारत की तर्कसंगत बौद्धिक परंपराओं पर जोर देकर इसका खंडन किया। इसका सबसे प्रभावशाली प्रमाण स्वयं गौतम बुद्ध से मिलता है, जिन्होंने लगभग 2,500 वर्ष पहले केसपुत्त (आधुनिक बिहार का केसरिया) के लोगों को एक उपदेश दिया था।

कथा के अनुसार, बुद्ध केसपुत्त नगर पहुंचे, जहां के निवासी भ्रमित थे। कई शिक्षक उनके नगर से गुजरे, प्रत्येक ने अपने सिद्धांत का प्रचार किया और दूसरों की आलोचना की। लोगों ने बुद्ध से पूछा कि वे कैसे जान सकते हैं कि कौन सा सिद्धांत सत्य है। उन्हें किस पर विश्वास करना चाहिए? कौन सत्य बोलता है और कौन असत्य?

बुद्ध की प्रतिक्रिया क्रांतिकारी थी। उन्होंने उनसे अपने वचन को मानने के लिए नहीं कहा। इसके बजाय उन्होंने उन्हें सलाह दी कि केवल इसलिए किसी दावे को स्वीकार न करें क्योंकि उसे बार-बार दोहराया जाता है, वह परंपरा में है, शास्त्रों में लिखा है, तर्क द्वारा समर्थित है, या आदरणीय शिक्षकों द्वारा सिखाया गया है।

तो फिर उन्हें क्या करना चाहिए? बुद्ध ने उन्हें स्वयं चीजों का परीक्षण करने की सलाह दी। जब आपको निश्चित रूप से पता चल जाए कि कुछ चीजें हानि और पीड़ा की ओर ले जाती हैं, तो उन्हें त्याग दें। जब आपको यकीन हो जाए कि कुछ चीजें लाभ और सुख की ओर ले जाती हैं, तो उन्हें अपना लें। यह मूल रूप से स्वतंत्र निर्णय और आलोचनात्मक जांच का आह्वान था। सत्य का परीक्षण अनुभव और तर्क के माध्यम से किया जाना चाहिए।

तर्क और वाद-विवाद की हमारी स्वदेशी परंपरा

इसी कारण विद्वान पी.वी.एस. कुमार यह तर्क देते हैं कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण एक स्वदेशी विमर्श है, उधार लिया हुआ नहीं। उनका कहना है कि इसमें लैंगिक न्याय, पर्यावरणीय उत्तरदायित्व

और अंतर-सांस्कृतिक संवाद जैसे मुद्दों से जुड़ने की क्षमता है। चूंकि हमारे संवैधानिक दृष्टिकोण में यह मानवतावाद के साथ जुड़ा हुआ है, इसलिए यह संकीर्ण वैज्ञानिकतावाद की अतियों को पार करने में हमारी सहायता करता है और साथ ही अविवेकपूर्ण तथा दमनकारी पारंपरिक मानसिकताओं का मुकाबला भी करता है।

इसी प्रकार अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन ने यह इंगित किया है कि भारतीय परंपराओं को पूरी तरह धार्मिक, विज्ञान-विरोधी या आलोचनाहीन मानना एक अत्यधिक सरलीकरण है। दार्शनिक वाद-विवाद, परंपरागत विचारधाराओं से भिन्न विचारधाराएं, और संवाद की परंपराएं लंबे समय से इस उपमहाद्वीप के बौद्धिक परिदृश्य को आकार देती रही हैं।

विचार करें कि प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों और दार्शनिकों ने अंधविश्वासों का सामना किस प्रकार किया। चौथी-पांचवीं शताब्दी में लिखने वाले बौद्ध चिकित्सक और दार्शनिक नागार्जुन ने अंधविश्वास को चुनौती दी। रूढ़िवादी परंपराओं ने शास्त्रीय ग्रंथों (शब्द प्रमाण) को ज्ञान का वैध स्रोत मानकर उनका अंधाधुंध पालन किया। लेकिन नागार्जुन ने एक गहन प्रश्न उठायाः साक्ष्य या गवाही केवल वही है जो किसी ने कहा है। यह प्रत्यक्ष अवलोकन, अनुमान या केवल विश्वास पर आधारित हो सकती है। फिर हम केवल विश्वास के आधार पर, बिना किसी प्रत्यक्ष या अनुमानित प्रमाण के, गवाही या शास्त्र को क्यों स्वीकार करें? उन्होंने कहा कि केवल विश्वास पर आधारित शब्द, जो प्रमाण पर आधारित न हो, स्वीकार्य नहीं है।

ऐसे तर्क यह दर्शाते हैं कि भारतीय दार्शनिक परंपराओं ने प्रमाण, अधिकार और तर्कसंगत औचित्य जैसे वैज्ञानिक चिंतन के मूल सिद्धांतों पर गंभीरता से विचार किया। भौतिकवादी चार्वाक विचारधारा ने सभी अलौकिक मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया। बौद्ध तर्कशास्त्रियों ने वाद-विवाद और तर्क की कला को परिष्कृत किया। सार्वजनिक जीवन में शासन की नीति शास्त्र परंपरा ने ऐसे नियम विकसित किए जो आस्था की परवाह किए बिना सभी को स्वीकार्य हों। जैसा कि तेलुगु ग्रंथ सकल-नीति-सम्मतमु में कहा गया है, ऐसा ज्ञान "सुल्तान की मुहर वाले सिक्के की तरह हर जगह समान रूप से प्रचलित होना चाहिए।"

निजी विश्वास, सार्वजनिक तर्क

हम इस समृद्ध विरासत को आज के समय के लिए एक व्यावहारिक दर्शन में कैसे बदल सकते हैं? दिवंगत तर्कवादी नरेंद्र दाभोलकर ने एक सुंदर और अत्यंत सरल ढांचा प्रस्तुत किया। उन्होंने विश्वास के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को समझाने के लिए चार रास्तों का उदाहरण दिया।

कल्पना कीजिए कि आप किसी से आरमोरी नामक कस्बे तक पहुंचने का रास्ता पूछते हैं। एक व्यक्ति कहता है कि उसने दो महीने पहले एक राहगीर से इस रास्ते के बारे में सुना था। दूसरा कहता है कि उसका एक मित्र पिछले महीने उस रास्ते से गया था। तीसरा कहता है कि वह स्वयं चार दिन पहले वहां गया था। चौथा कहता है कि उसने छह महीने पहले सपने में वह रास्ता देखा था। आप किसकी सलाह पर भरोसा करेंगे? दाभोलकर का उत्तर सीधा थाः विश्वास प्रमाण के अनुपात में होना चाहिए। प्रमाण जितना अधिक विश्वसनीय होगा, हम उस पर उतना ही अधिक विश्वास करेंगे। उन्होंने तर्क दिया कि यह सिद्धांत वैज्ञानिक दृष्टिकोण का मूल है। हम इस तर्क का उपयोग अपने दैनिक जीवन में बिना सोचे-समझे करते हैं।

फिर भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण व्यक्तिगत विश्वासों के पूर्ण उन्मूलन की मांग नहीं करता। एक बहुलतावादी समाज में व्यक्तियों के विविध आध्यात्मिक या दार्शनिक विचार हो सकते हैं। महत्वपूर्ण अंतर निजी विश्वास और सार्वजनिक तर्क के बीच होता है। प्रत्येक व्यक्ति को निजी रूप से जो भी विश्वास रखना हो, रखने की स्वतंत्रता है। यही स्वतंत्रता का सार है। लेकिन जब विश्वास सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश करने, नीति को आकार देने, क़ानूनों को निर्धारित करने या दूसरों के अधिकारों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं, तो उन्हें तर्क और प्रमाण के आधार पर परखा जाना चाहिए।

डॉ. बाबासाहेब भीमराव अंबेडकर इस बात को गहराई से समझते थे। उन्होंने देखा कि जाति ने 'सार्वजनिक भावना को नष्ट कर दिया है' और 'सार्वजनिक मत को असंभव बना दिया है,' क्योंकि निष्ठा व्यापक समाज तक फैलने के बजाय अपनी-अपनी जाति तक सीमित रह जाती है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि एक न्यायपूर्ण समाज के लिए करुणा और समानता के साथ-साथ प्रज्ञा (तर्कसंगत समझ) का मार्गदर्शन आवश्यक है। उनका तर्क था कि तर्क के बिना, नेक इरादे भी हानिकारक परिणाम दे सकते हैं।

एक समाज अंधविश्वासों की नींव पर नहीं बनाया जा सकता, और न ही उन विरासत में मिली असमानताओं पर जो लोगों को विभाजित करती हैं। सार्वजनिक जीवन को तर्कसंगत, नैतिक और मानवतावादी चिंतन से उत्पन्न सिद्धांतों द्वारा संचालित होना चाहिए। आस्था किसी व्यक्ति का मार्गदर्शन कर सकती है, लेकिन गणराज्य का संचालन तर्क को करना चाहिए।

इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टिकोण केवल वैज्ञानिक होने के बारे में नहीं है; यह एक नागरिक आदत है। यह वह सूत्र है जो बुद्ध द्वारा कलामा समुदाय (केसपुत्त में रहने वाला समुदाय) को दिए गए उपदेश, नागार्जुन द्वारा अंधविश्वास की आलोचना, भगत सिंह के क्रांतिकारी उत्साह, नेहरू के आधुनिकीकरण के दृष्टिकोण और अंबेडकर के न्यायपूर्ण समाज की खोज को जोड़ता है। यह बौद्धिक स्वतंत्रता, तार्किक तर्क और प्रमाणों के प्रति सम्मान का आह्वान करता है। यह वह भावना है जो दुख को भाग्य के रूप में स्वीकार करने से इनकार करती है, जो असमानता पर सवाल उठाती है, और लगातार एक बेहतर, अधिक तर्कसंगत तथा अधिक करुणामय जीवन-पद्धति की खोज करती है। ❑